

अहिंसा की परिधि में पर्यावरण संतुलन

• डॉ. पुष्पलता जैन

अहिंसा धर्म है, संयम है और पर्यावरण निःसर्ग है, प्रकृति है। प्रकृति की सुरक्षा हमारी गहन अहिंसा और संयम साधना का परिचायक है। प्रकृति का प्रदूषण पर्यावरण के असंतुलन का आवाहक है और असंतुलन अव्यवस्था और भूचाल का प्रतीक है अतः प्राकृतिक संतुलन बनाये रखना हमारा धर्म है, कर्तव्य है और आवश्यकता भी, अन्यथा विनाश के कगारों पर हमारा जीवन बैठ जाता है और कटी हुई पतंग-सा लड़खड़ाने लगता है। यह ऐतिहासिक और वैज्ञानिक सत्य है।

प्राचीन ऋषियों, महर्षियों और आचार्यों ने इस प्रतिष्ठित तत्व को न केवल भलीभाँति समझ लिया था बल्कि उसे उन्होंने जीवन में उतारा भी था। वे प्रकृति के रम्य प्रांगण में स्वयं रहते थे, उसका आनंद लेते थे और वनवासी रहकर स्वयं को सुरक्षित रखने के लिए प्रकृति की सुरक्षा किया करते थे। जब कभी प्राकृतिक संतुलन बिगड़ा, विपत्तियों के अंबार ने हमारे दरवाजे पर दस्तक दी और तब भी यदि हम न संभले तो मृत्यु का दुःखद आलिंगन करने के अलावा हमारे पास कोई दूसरा रास्ता नहीं बचा। शायद यही कारण है कि हमारे पुरखों ने हमें “परस्पोपग्रहो जीवानाम्” का पाठ अच्छी तरह से पढ़ा दिया जिसे हमने गाँठ बाँधकर सहेज लिया।

प्रकृति वस्तुतः जीवन की परिचायिका है। पतझड़ के बाद वसंत, और वसंत के बाद पतझड़ आती है। दुःख के बाद सुख और सुख के बाद दुःख का चक्र एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। वनस्पति और प्राणी जगत प्रकृति के अभिन्न अंग हैं। उनकी सौंदर्य अभिव्यक्ति जीवन की यथार्थता है। वसंतोत्सव हमारे हर्ष और उल्लास का प्रतीक बन गया है। कवियों और लेखकों ने उसकी उन्मादकता को पहचाना है, सरस्वती की वंदना कर उसका आदर किया है और हल जोतकर जीवन के सुख का संकेत दिया है।

प्रकृति प्रदत्त सभी वनस्पतियाँ हम-आप जैसी सांस लेती हैं, कार्बन-डाय-आक्साइड के रूप में और साँस छोड़ती हैं आक्सीजन के रूप में। यह कार्बन-डाय आक्साइड पेड़-पौधों के हरे पदार्थ द्वारा सूर्य की किरणों के माध्यम से फिर आक्सीजन में बदल जाती है इसलिए बाग-बगीचों का होना स्वास्थ्य के लिए अत्यावश्यक है। पेड़-पौधों की यह जीवन प्रक्रिया हमारे जीवन को संबल देती है, स्वस्थ हवा और पानी देकर तथा आवाहन करती है जीवन को संयमित और अहिंसक बनाये रखने का। सारा संसार इन जीवों से भरा हुआ है और हर जीव का अपना-अपना महत्व है। उनके अस्तित्व की हम उपेक्षा नहीं कर सकते। उनमें सुख-दुख के अनुभव करने की शक्ति होती है। जैनागमों में मूलतः स्थावर और त्रस ये दो प्रकार के जीव हैं। स्थावर जीवों में चलने-फिरने की शक्ति नहीं होती, ऐसे जीव पाँच प्रकार के होते हैं - १. पृथ्वी कायिक, २. अप्कायिक, ३. वनस्पति कायिक, ४. अग्नि कायिक और ५. वायु कायिक। दो इन्द्रियों से लेकर पाँच इन्द्रियों वाले जीवन त्रस कहलाते हैं। जैनशास्त्रों में इन जीवों के भेद-प्रभेदों का वर्णन बड़े विस्तार से मिलता है जो वैज्ञानिक दृष्टि से भी सही उतरा है। इसकी मीमांसा और विस्तार पर तो हम यहाँ नहीं जायेंगे परंतु इतना अवश्य कहना चाहूँगी कि इन सब जीवों का गहरा संबंध पर्यावरण से है।

हमारे चारों ओर की भूमि, हवा और पानी ही हमारी पर्यावरण है। इनसे हमारा पुराना संबंध है लेकिन इससे भी अधिक पुराना संबंध है पौधों और जानवरों से। हमारे लिए सारे जानवर और पौधे जरूर हैं। उनके बिना हमारा जीवन सुसंचालित नहीं हो सकता। यह पर्यावरण जीव-जंतुओं और पेड़-पौधों के कारण ही जीवंत है। उनकी हिंसा करने पर प्रकृति भी अपनी प्रतिक्रिया दिखलाती है। आज के भौतिक वातावरण में, विज्ञान की चकाचौंध में हम अज्ञानवश अपने क्षुद्र स्वार्थ के लिए अपने प्राकृतिक पर्यावरण को दूषित कर रहे हैं। प्रकृति का संतुलन डगमगाने लगा है। उसकी सादगी और पवित्रता कुचली जा रही है, नष्ट हो रही है। इसका मूल कारण है हमारा असंयम, तृष्णा और प्रबल आशा का संचरण। हमने वन, उपवन को नष्ट भ्रष्ट कर ऊँची ऊँची अट्टालिकायें बना लीं, बड़े-बड़े कारखाने स्थापित कर लिए जिनसे हानिकारक रसायनों, गैसों का निर्झरण हो रहा है, उपयोगी पशु-पक्षियों और कीड़ों-मकोड़ों को समाप्त किया जा रहा है। वाहनों आदि से ध्वनि प्रदूषण, सारी गंदगी, कूड़ा-कचड़ा आदि बहा देने से जल प्रदूषण और गैसों से वायु प्रदूषण हो रहा है। सारी प्राकृतिक संपदा को हम अपने क्षणिक लाभ के लिए असंतुलित करने के दोषी बन रहे हैं।

कुछ प्रदूषण प्रकृति से होता है पर उसे प्रकृति ही स्वच्छ कर देती है। जैसे पेड़-पौधों की कार्बन-डाई-आक्साइड सूर्य की किरणों से साफ होकर आक्सीजन में बदल जाती है। हमारा बहुत सारा जीवन इन्हीं पेड़-पौधों पर अवलंबित है। वैज्ञानिकों ने अपने अनुसंधान के आधार पर यह स्पष्ट किया है कि अलग-अलग तरह के पेड़-पौधों की पत्तियां विभिन्न गैसों आदि के जहर, धूल आदि से जूझकर पर्यावरण को स्वच्छ रखती है। जंगल कट जाने से वर्षा कम होती है, आबहवा बदल जाती है, सूखा पड़ता है, बाढ़ आती है, गर्मी अधिक होती है। वन्य जीव भी इसी तरह हमारी भौतिकता के शिकार हो रहे हैं। अनेक उपयोगी जानवर, पक्षी और कीड़ों को हम समाप्त कर रहे हैं। इस कारण हमारा जीवन विनाश की दिशा में तेजी से बढ़ रहा है। यदि हमने पर्यावरण की सुरक्षा अब भी नहीं की और प्रदूषण की मात्रा कम नहीं की तो पर्यावरण जहरीला होकर हमारे जीवन को तहस-नहस कर देगा। नई-नई बीमारियों से हम त्रस्त हो जायेंगे। पर्यावरण की रक्षा वस्तुतः हमारा विकास है। उदाहरण के तौर पर कोई आम पीपल वर्गद आदि पेड़-पौधे वातावरण की गंदी हवा को छानकर, और स्वयं जहर का घूंट पीकर हमें स्वच्छ हवा और प्राण वायु देते हैं। इसी तरह आम, सूर्यमुखी पथ, चौलाई, कनकौवा, गौर, सनई आदि भी गंदी हवा दूर करके हमारी सेवा करते हैं।

वैज्ञानिक अनुसंधान के फलस्वरूप हम यह जानते हैं कि पर्यावरण का असंतुलन हिंसा जन्य है और यह हिंसा तब तक होती रहती है जब तक हमें आत्मबोध न हो। आत्मतुला की कसौटी पर कसे बिना व्यक्ति न तो दूसरे के दुःख को समझ सकता है और न उसके अस्तित्व को स्वीकार कर पाता है। कदाचित् यही कारण है कि आचारांग जैसे प्राचीन आगम ग्रंथ का प्रारंभ शस्त्रपरिज्ञा से कर हमें अस्तित्व बोध कराया गया है। यह अस्तित्व बोध अहिंसात्मक आचार-विचार की आस्था का आधार स्तम्भ है। अहिंसा के चार मुख्य आधार स्तम्भ हैं -आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद।^१ प्राकृतिक पर्यावरण और नैतिक पर्यावरण, दोनों की सुरक्षा के लिए इन चारों मापदंडों का पालन करना आवश्यक है। इन चारों की पृष्ठभूमि में अहिंसा दर्शन प्रहरी के रूप में खड़ा रहता है।

१. आश्रवो मदहेतुः स्यात् संवरो मोक्षकारणम्।
इतीय मार्हती दृष्टि, रन्यदस्या : प्रपंचनम्॥

दिशा-दृष्टि से दूर पड़ा हुआ व्यक्ति “जीवो जीवस्य भोजनम्” मानकर स्वयं की रक्षा के लिए दूसरे का अमानुषित वध और शोषण करता है, प्रशंसा सम्मान, पूजा, जन्म-मरण मोचन तथा दुःख प्रतिकार करने के लिए वह अज्ञानतापूर्वक शस्त्र उठाता है और सबसे पहले पृथ्वी और पेड़ पौधों पर प्रहार करता है जो मूक हैं, प्रत्यक्षतः कुछ कर नहीं सकते। परन्तु ये मात्र मूल हैं इसलिए चेतनाशून्य है और निरर्थक हैं यह सोचना वस्तुतः हमारी मृत्यु का कारण बन सकता है जिसे महावीर ने कहा -“एस खलुमोहे, एस खलुमारे, एस खलुणरए।”^२ यह मोह हमारी प्रमाद अवस्था का प्रतीक है। इसी से हम पृथ्वीकायिक आदि जीवों की हिंसा करते हैं। इन स्थावर जीवों में भी प्राणों का स्पन्दन है, उनकी चेतना सतत मूर्छित और बाहर से लुप्त भले ही लग रही हो पर उन्हें हमारे अच्छे-बुरे भावों का ज्ञान हो जाता है, और शस्त्रच्छेदन होने पर कष्टानुभूति भी होती है। भगवती सूत्र (१९.३५) में तो यह कहा कि पृथ्वीकायिक जीव आक्रांत होने पर वृद्ध पुरुष से कहीं अधिक अनिष्टतर वेदना का अनुभव करता है। इतिहास यह बताता है कि पृथ्वी के गर्भ में करोड़ों साल पहले जीवों का रूप छिपा रहता है जो फासिल्स (जीवाश्म) के रूप में हमें प्राप्त हो सकता है, पृथ्वी के निरर्थक खोदने से उसको-टूटने की संभावना हो सकती है और साथ ही पृथ्वी के भीतर रहने वाले जीवों के वध की भी जिम्मेदारी हमारे सिर पर आ जाती है।

इसी तरह जलकायिक जीव होते हैं जिनकी हिंसा न करने के लिए हमें सावधान किया गया है। क्षेत्रीय निमित्त से जल में कीड़े उत्पन्न होने को तो सभी ने स्वीकार किया है पर जल के रूप में उत्पन्न होने वाले जीवों की स्वीकृति महावीर के दर्शन में ही दिखाई देती है इसलिए वहाँ उत्सेचन (कुए से जल निकालना), गालन (जल छानना), धावन (जल से उपकरण आदि धोना) जैसी क्रियाओं को जलकाय के शस्त्र के रूप में निर्देष्ट किया है। ऐसी हिंसा व्यक्ति के अहित के लिए होती है, अबोध के लिए होती है (तंसे अहियाए, तं से अबोहीए)। इसीलिए जैनधर्म में जल गालन और प्रासुक जल सेवन को बहुत महत्व दिया गया है। साथ ही यह भी निर्देश है कि जो पानी जहाँ से ले आये, उसकी बिलछावनी धीरे से उसी में छोड़नी चाहिए ताकि उसके जीव न मर सकें। “पानी पीजे छानकर गुरु कीजे जान के” कहावत स्वच्छ पानी के उपयोग का आग्रह करती है। दूषित पानी निश्चित ही हमारे स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। पीलिया और पोलियो जैसे वायरस रोग, दस्त, हैजा, टायफाइड जैसे चैक्टीरिया रोग और सूक्ष्म जीवों व कृमियों से उत्पन्न होने वाले रोग दूषित प्रदूषित जल के उपयोग से ही होते हैं। एक बूँद पानी में हजारों जीव रहते हैं यह भी एक वैज्ञानिक तथ्य है इसलिए व्यर्थ पानी बहाना भी अनर्थ दंड में गिना जाता है। आज के प्रदूषित पर्यावरण में नदियों और समुद्रों का जल भी उपयोगिता की दृष्टि से प्रश्न चिह्न खड़ा कर देता है। खाड़ी-युद्ध के संदर्भ में समुद्र में गिराये हुए तेल से समुद्री जीवों का अस्तित्व खतरे में पड़ गया है और उसमें रहने वाले खाद्य शैवाल (काई) लवण आदि उपयोगी पदार्थ दूषित हो रहे हैं। अनेक जल संयंत्रों के खराब होने की भी आशंका हो गयी है।

अग्नि में भी जीव होते हैं जिन्हें हम मिट्टी जल आदि डालकर प्रमाद वश नष्ट कर डालते हैं। वायुकायिक जीव भी इसी तरह हम से सुरक्षा की आशा करते हैं। आज का वायु प्रदूषण हमें उस ओर अप्रमत्त और अहिंसक रहने का संकेत करता है।

वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा आज सर्वाधिक बड़ी समस्या बनी हुई है। पेड़-पौधों को काटकर आज हम उन्हें व्यर्थ ही जलाने चले जा रहे हैं। वे मूक-वधिर अवश्य दिखाई देते हैं पर उन्हें हम आप जैसी कष्टानुभूति होती है। पेड़-पौधे जनमते, बढ़ते और म्लान होते हैं। भगवती सूत्र के सातवें-आठवें शतक में स्पष्ट कहा है कि वनस्पति कायिक जीव भी हम जैसे ही श्वासोच्छ्वास लेते हैं। शरद हेमन्त, वसंत, ग्रीष्म आदि सभी ऋतुओं में कम से कम आहार ग्रहण करते हैं। वर्तमान विज्ञान की दृष्टि से भी यह कथन सत्य सिद्ध हुआ है। प्रज्ञापना (२२ से २४ सूत्र) में वनस्पति कायिक जीवों के अनेक प्रकार बताये हैं और उन्हीं का विस्तार अंगविज्जा आदि प्राचीन ग्रंथों में मिलता है। इन ग्रंथों के उद्धरणों से यह तथ्य छिपा नहीं है कि तुलसी जैसे सभी हरे पौधे और हरी घांस, बांस आदि वनस्पतियाँ हमारे जीवन के निर्माण की दिशा में बहुविध उपयोगी हैं।

यह एक विश्वजनीन सत्य है कि पदार्थ में रूपान्तरण प्रक्रिया चलती रहती। “सद्द्रव्य लक्षणम्” और “उत्पाद् व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्” सिद्धांत सृष्टि संचालन का प्रधान तत्व है। रूपान्तरण के माध्यम से प्रकृति में संतुलन बना रहता है। पदार्थ पारस्परिक सहयोग से अपनी जिन्दगी के लिए ऊर्जा एकत्र करते हैं और कर्म सिद्धांत के आधार पर जीवन के सुख-दुःख के साधन संजो लेते हैं। प्राकृतिक संपदा को असुरक्षित कर उसे नष्ट-भ्रष्ट कर हम अपने सुख-दुःख की अनुभूति में यथार्थता नहीं ला सकते। अप्राकृतिक जो भी होगा, वह मुखौटा होगा, दिखावट के अलावा और कुछ नहीं। प्रकृति का हर तत्व कहीं न कहीं उपयोगी होता है। यदि उसे उसके स्थान से हटाया गया तो उसका प्रतिफल बुरा भी हो सकता है। ब्रिटेन में मूंगफली की फसल अच्छी बनाने के लिए मक्खी की जाति को नष्ट किया गया फिर भी मूंगफली का उत्पादन नहीं हुआ क्योंकि वे मक्खियाँ मूंगफली के पुष्पों के मादा और नर में युग्मन करती थीं। सर्प आदि अन्य कीड़े-मकोड़ों आदि के विषय में भी यही बात कही जा सकती है।

पर्यावरण का संबंध मात्र प्राकृतिक संतुलन से ही नहीं है बल्कि आध्यात्मिक और सामाजिक वातावरण से परिशुद्ध और पवित्र बनाये रखने के लिए भी उसका उपयोग किया जाता है। संक्षेप में यदि कहा जाय तो धर्म ही पर्यावरण का रक्षक है और नैतिकता उसका द्वारपाल। आज हमारे समाज में चारों ओर अनैतिकता और भ्रष्टाचार सुरसा की भांति बढ़ रहा है। चाहे वह राजनीति का क्षेत्र हो या शिक्षा का, धर्म का क्षेत्र हो या व्यापार का, सभी के सिर पर पैसा कमाने का भूत सवार है। माध्यम चाहे कैसा भी हो इससे हमारे सारे सामाजिक संबंध तहस-नहस हो गये हैं। भ्रातृत्व भाव और प्रतिवेशी संस्कृति किनारा काट रही है, आहार का प्रकार मटमैला हो रहा है, शाकाहार के स्थान पर अप्राकृतिक खान पान स्थान ले रहा है। मिलावट ने व्यापारिक क्षेत्र को सड़ी खर की तरह दुर्गन्धित कर दिया है। अर्थ लिप्सा की पृष्ठभूमि में बर्बरता बढ़ रही है। प्रसाधनों की दौड़ में मानवता कूच कर रही है। इन सारी भौतिक वासनाओं की पूर्ति में हम अपनी आध्यात्मिक संस्कृति को भूल बैठे हैं। मानसिक, वाचिक और कायिक क्रियाओं के बीच समन्वय खतम हो गया है। हमारी धार्मिक क्रियाएं मात्र बाह्य आचरण का प्रतीक बन गयी हैं। परिवार का आदर्श जीवन समाप्त हो गया है, ऐसी विकट परिस्थिति में अहिंसा के माध्यम से पर्यावरण को संतुलित बनाये रखने की साधना को पुनरुज्जीवित करना नितांत आवश्यक हो गया है।

पर्यावरण का यह विकट आंतरिक और बाह्य असंतुलन धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र में जबरदस्त क्रांति लायेगा। यह क्रांति अहिंसक हो तो निश्चित ही उपादेय होगी, पर यह असंतुलन और बढ़ता गया तो खूनी क्रांति होना भी असंभव नहीं। जहाँ एक दूसरे समाज के बीच लम्बी-चौड़ी खाई हो गयी

हो, एक तरफ प्रासाद और दूसरी तरफ झोपड़ियाँ हो, एक ओर कुपच और दूसरी ओर भूख से मृत्यु हो तो ऐसा समाज बिना वर्ग संघर्ष के कहाँ रह सकता है? सामाजिक समता की प्रस्थापना और वर्ग संघर्ष की व्यथा-कथा को दूर करने के लिए अहिंसक समाज की रचना और पर्यावरण की विशुद्धि एक अपरिहार्य साधन है। यही धर्म है और यही संयम है और यही सम्यग्ज्ञान और सम्यक् आचरण का सार है।

एयं खु णाणिणो सारं जं हिंसइ ण कंचणं।

अहिंसा समयं चेव एयावंतं वियाणि या॥ सूत्रकृतांग, १.१.४.१०

पर्यावरण पर गंभीरता से विचार किया जाये तो उसका क्षेत्र बहुत विस्तृत हो जाता है। व्यक्ति का शरीर मन और अध्यात्म का परिवेश सब कुछ उसकी सीमा में समाहित हो जाता है। वह वातावरण जो हमारे शरीर और मन को प्रभावित करता है, अपनी प्रवृत्ति से हटकर अध्यात्म को दूषित करता है, हमारे लिए महत्वपूर्ण सिद्ध होता है। प्राचीन आचार्यों ने वातावरण के इस महत्व को भलीभाँति आँका और उसे विशुद्ध करने के लिए धर्म का सहारा लिया। इसलिए यों कहा जा सकता है कि धर्म का परिपालन पर्यावरण की विशुद्धि है, शरीर की रक्षा है, मन को संयमित करना है और आध्यात्मिक वातावरण को सुस्थिर बनाना है। पेड़-पौधों और पशु-पक्षियों आदि का पर्यावरण की दृष्टि से कितना महत्व है, यह हम इस तथ्य से समझ सकते हैं कि महावीर, बुद्ध और ऋषि महर्षियों ने संबोधि प्राप्ति के लिए किसी न किसी वृक्ष का सहारा लिया जिन्हें हमने बोधि वृक्ष अथवा चैत्यवृक्ष कहा और सूर्य, कच्छप, कमल आदि को तीर्थकरों का लांछल बना दिया। इतना ही नहीं बल्कि उनका पूजा-विधान और मुक्तों में अंकन भी किया जाने लगा।

जैसा हमने पीछे संकेत किया है पर्यावरण का प्रथमतः दृश्य संबंध हमारे शरीर से है। जैनाचार्यों ने उपासक दशांग, भगवतीसूत्र आदि ग्रंथों में ऐसे बीसों रोगों की चर्चा है जो पर्यावरण के असंतुलित हो जाने से हमारे शरीर को घेर लेते हैं और मृत्यु की ओर हमें ढकेल देते हैं। अंग विज्जा में तो इन सारे संदर्भों की एक लंबी लिस्ट मिल जाती है। इन सबकी चर्चा करना यहाँ विस्तार को निमंत्रित करना है, पर इतना तो संकेत किया ही जा सकता है कि संधिवात, साइटिका, लकवा, मिर्गी, सुजाक पायरिया, क्षय, कैंसर, ब्लड प्रेशर आदि जैसे रोगों का मुख्य कारण कब्ज है और गलत आहार-विहार तथा श्रम का अभाव है। शुद्ध शाकाहार प्राकृतिक आहार है और संयमित-नियमित भोजन रोगों के निदान, उत्तम स्वास्थ्य और मन की खुशहाली का मूल कारण है। मोटा खाना, मोटा पहिनना” की उक्ति के साथ “पैर गरम, सर रहे ठंडा, फिर डाक्टर आये तो मारो डंडा” की कहावत उल्लेखनीय है जिसमें शाकाहार पर बल दिया गया है। मांसाहार एक ओर जहाँ मानसिक क्रियाओं को असंतुलित करता है वहीं वह शरीर को भी बुरी तरह प्रभावित करता है इसलिए जैनाचार्यों ने अहिंसा की परिधि में शाकाहार पर बहुत जोर दिया है और उन पदार्थों के सेवन का निषेध किया है जो किसी भी दृष्टि से हिंसाजन्य है इसलिए प्राकृतिक चिकित्सा अहिंसात्मक साधना के लिए सर्वाधिक अनुकूल पैथी है।

पर्यावरण को असंतुलित करने में क्रोधादि कषायें अधिक कारणभूत बनती हैं। रक्तचाप, मधुमेह, कैंसर आदि जैसी भयानक बीमारियाँ हमारे मानसिक असंतुलन से होती हैं जिन्हें योग साधना के माध्यम से संयमित किया जा सकता है। सारे आगम ग्रंथ प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से मन को शुभ भावों की ओर ले जाने का मार्ग प्रशस्त करते हैं और आत्म विशुद्धि के लिए योग साधना की विविध क्रियाओं को स्पष्ट करते हैं।

इस प्रकार समग्र रूप में पर्यावरण पर यदि चिंतन किया जाये तो समूचा जैन धर्म हमारे सभी प्रकार के पर्यावरणों को अहिंसात्मक ढंग से संतुलित करने का विधान प्रस्तुत करना है और वैयक्तिक तथा सामाजिक शांति के निर्माण में स्थायित्व की दृष्टि से नये आयामों पर विचार करने को विवश करता है।

न्यू एक्सटेंशन एरिया सदर
नागपुर ४४०-००१

जैन आचार : पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता

• श्री राजीव प्रचंडिया

आचार पक्ष एक ऐसा आधार स्तम्भ है जिस पर जीवन रूपी वृक्ष पुष्पित-पल्लवित है। यह जीवन की यथार्थता को प्रकट करने का एक सशक्त एवं सपाट साधन है। इसी को ध्यान में रखते हुए 'आचार-पक्ष' पर विश्व के समस्त दर्शनों, धर्मों में अपने-अपने स्तर पर विवेचन हुआ है। जैन दर्शन, धर्म भी इससे अछूता नहीं रहा है। इस व्यावहारिक एवं परम उपयोगी विषय पर चिन्तन करने से पहिले हमें यह सोचना होगा कि हमारे जीवन का लक्ष्य क्या है? हमारे सामने तीन स्थितियाँ हैं एक आध्यात्मिक दूसरी सांसारिक और तीसरी मिश्रित रूप। सामान्यतः आज हम जिस दौर से गुजर रहे हैं उसमें तीसरे स्थिति ही समग्र जीवन का आयाम स्थिर करती है। यह तो हो सकता है इसमें व्यञ्जित बहुतायत कभी आध्यात्मिकता की तो कभी सांसारिकता की झलकने लगे। कारण स्पष्ट है वर्तमान परिस्थितियों में नितान्त पहली। दूसरी स्थिति परक लक्ष्य का साकार होना असम्भव सा लगता है। इसलिए देशकाल-समाज के आधार पर जो सटीक हो, न्यायसंगत हो, उपयोगी एवं उपादेयी हो, उसका समय-समय पर मूल्यांकन-पुनर्मूल्यांकन होता रहा है, होना चाहिये। मूल्यांकन करते समय समाज व्यक्ति का लक्ष्य सुस्पष्ट होना चाहिए। देश काल के आधार पर परिस्थितियाँ परिवर्तित होती रहती हैं, तदनु रूप जीवन भी संचालित होता रहता है। उदाहरण के लिए पूर्व में जो सहनशक्ति, सहिष्णुता विद्यमान थी वह आज उतनी मात्रा सीमा में अदर्शित है और जो आज जिस रूप में है वह कल आने वाला समय में दृष्टिगोचर नहीं होगी। अतः जो समीचीन है उस पर आज के सन्दर्भ में हमें विचारना होगा। उसमें व्यञ्जित भावों की सूक्ष्मता को पकड़ना होगा और तारतम्य बैठाना होगा उसकी सार्थकता को, समीचीनता को। आज जब हम अपनी नजर चारों ओर दौड़ाते हैं तो पाते हैं कि व्यक्ति या समाज चाहे वह आध्यात्मिक-सामाजिक आदि किसी भी वर्ग विशेष से सम्बन्धित क्यों न हो अपने निर्धारित कर्तव्यों से विमुख होने के उद्यत है। क्यों? ऐसा क्यों? जो नियम, संविधान, संहिताएँ उस काल की स्थिति के देखते हुए बनाए गए थे या निर्धारित किए गए थे या तो उन पर कट्टरता से चल जाय या फिर उनमें युगानुरूप संशोधन-संवर्धन कर नई संहिताएँ आदि स्थापित कर उस पर चला जाए। यही दो रूप हमारे सामने आते हैं। पुरानी आचार-पद्धति में प्रच्छन्न जो वैज्ञानिकता है उसे हम सामने लाएँ तभी उसकी समीचीनता सिद्ध होगी। प्रस्तुत लेख का उद्देश्य भी यही है